अधिगम
अंक 21 : दिसम्बर 2021
ISSN : 2394-773X

सिनेमा का इतिहास और इतिहास का सिनेमा (तकनीक और समय के आईने में सिनेमा)

डॉ० सन्तोष कुमार चतुर्वेदी*

लेखक का दायित्व एक साथ सामाजिक चेतना, पारिवारिक चेतना, मानवीय चेतना और ब्रह्मांड व्यापी चेतना इन चारों स्तरों पर बनता है। अगर कवि इसमें से सिर्फ एक को पकड़ ले तो परिवर्तन की दिशा भी उसके हाथ से छूट जाएगी और साहित्यकार का वह दायित्व भी पूरा नहीं कर पाएगा। अगर कवि केवल ब्रह्मांड चेतना पकड़ेगा तो बाबा लोगों का चेला हो जाएगा। केवल प्रेम वाली बात पकड़ेगा तो सिनेमा का गीतकार हो जाएगा। अगर केवल समाज चेतना पकड़ेगा तो किसी न किसी पार्टी लाइन से बंध जाएगा और तब उसमें वह क्षमता ही नहीं रह जाएगी कि चारों चेतनाओं को एक साथ ध्वनित कर सके या कि मनुष्य के निर्माण के लिए जो कुछ किया जा रहा है उस पर निरंतर प्रश्नचिह्न भी लगाता रह सके। विजयदेव नारायण साही, (साहित्य और साहित्यकार का दायित्व व्याख्यानमाला में।) हमारे विचार से उक्त वक्तव्य में लेखक की जगह इतिहासकार कर दिया जाए, तो बात पूरी तरह स्पष्ट हो जाती है। वैसे भी साहित्य, संस्कृति और तकनीक से इतिहास का गहरा अन्तर्सम्बन्ध है।

कहना न होगा कि तकनीक ने हमारी दुनिया को पूरी तरह बदल कर रख दिया है। दुनिया को बदलने वाली उस क्रांतिकारी तकनीक में एक सिनेमा की तकनीक भी है। इस सिनेमा ने इतिहास पर भी असर डाला और इतिहास अब दृश्य रूप में रिकॉर्ड होने लगा। चाहे–अनचाहे तत्कालीन समाज, उस समाज की रुचियाँ–अरुचियाँ, घटनाएँ थोड़ा बदले हुए रूप में ही सही, सिनेमा में दर्ज किया जाने लगा। गतिशीलता जीवन की निशानी ही नहीं, अनिवार्य शर्त भी मानी जाती है। पर्दे पर चलते, फिरते यानी गतिशील दृश्यों को देखना एक समय किसी अजूबे से कम नहीं था। इसीलिए सिनेमा हमेशा जीवंत बना रहा। सिनेमा एक ऐसा माध्यम है,

* प्राचार्य, महामति प्राणनाथ महाविद्यालय, मऊ, चित्रकूट

जिससे शायद ही दुनिया का कोई व्यक्ति अपरिचित हो। आगे चलकर तकनीक के क्षेत्र में सिनेमा ऐसा माध्यम साबित हुआ जिसने दुनियाभर की संस्कृति और परिवेश को वैश्विक तौर पर प्रभावित किया।

इंटरनेट के युग ने सिनेमा के पुरातन स्वरूप में काफी बदलाव कर दिया है। खैर हम यह कह सकते हैं कि तब वह एक जमाना हुआ करता था और फिल्मों के पहले शो का टिकट हासिल करना और फ़िल्म देखना एक उपलब्धि की तरह होता था। ऐसे लोगों को 'सिनेमाबाज' कहा जाता था। 'बाज़' शब्द वस्तुतः फारसी के 'बाज़िदन' शब्द से निकला है, जिसका आशय होता है– खेलना। 'बाज़' नामक उपाधि बहुत हद तक नकारात्मक सेंस में ही होती थी।

हालांकि एक समय ऐसा हुआ करता था जब फिल्म देखना अच्छा नहीं माना जाता था। युवा छुप–छुपा कर ही फिल्म देखने जाया करते थे। शायद यही वह वजह है कि भारतीय सिनेमा के शुरूआत में अभिनेत्रियों का दायित्व भी अभिनेताओं को ही निभाना पड़ा। 'राजा हरिश्चंद्र' (1912 ई.) फिल्म जो भारत की पहली मूक फिल्म मानी जाती है, में नायिका रानी तारामती की भूमिका बावर्ची का काम करने वाले एक पुरुष अन्ना सालुंके ने निभायी थी। हालांकि एक वर्ष बाद ही जब दादा साहब फाल्के ने अपनी फिल्म 'मोहिनी भस्मासुर' की शुरुआत की तो उनको कमला गोखले और दुर्गा गोखले के रूप में महिला अभिनेत्रियां मिल गयीं। शुरू में आभिजात्य घरों की महिलाएं फिल्मों में काम करने के लिए सोच तक नहीं सकती थीं। बहरहाल अब तो भारतीय सिनेमा प्रगति के उस सोपान पर है जहाँ उसकी गणना दुनिया के सबसे बड़े और उन्नत सिनेमा उद्योग के रूप में की जाती है।

हकीकत बहुत कुछ फिल्मी पर्दे से अलग, कह सकते हैं, अपने ही अंदाज़ वाली होती है। इसी जीवन की नकल उतारने का प्रयास सिनेमा के मार्फ़त किया जाता है। वैसे भी 'रील लाइफ' और 'रियल लाइफ' में जमीन–आसमान का फर्क होता है। पढ़ाई के दिन खत्म होने पर नौकरी के लिए जद्दोजहद और नौकरी मिलने पर जीवन का संघर्ष, यह वास्तविक जीवन की पटकथा होती है। यहाँ कुछ भी बनावटीपन नहीं होता।

कागज की खोज के बाद सिनेमा के आविष्कार ने दुनिया को सांस्कृतिक रूप से व्यापक पैमाने पर प्रभावित किया। अब व्यक्ति अपनी बातों, विचारों को लिपिबद्ध कर संरक्षित कर सकता था। संस्कृति का यह

प्रभाव आज जीवन के हरेक क्षेत्र में दिखायी पड़ता है। फिल्मों ने लोगों के रहन–सहन, सोच–विचार, बोली–बानी सबको एक नई दिशा प्रदान की। आज की दुनिया के सबसे बड़े उद्योगों में सिनेमा भी निर्विवाद रूप से शामिल है।

वैश्विक परिप्रेक्ष्य में भी देखा जाए तो द्वितीय विश्वयुद्ध तक सिनेमा में आदर्शों और विचारों को तरजीह दी जाती थी। लेकिन इस युद्ध ने सब कुछ बदल कर रख दिया। दुनिया में साम्राज्यवादी ब्रिटेन के वर्चस्व का सूर्यास्त हुआ और अमरीकी, सोवियत वर्चस्व का उदय हुआ। संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्त्वावधान में नए मूल्य और आदर्श गढ़े गए। 'वीटो पॉवर' की संकल्पना को यथार्थ रूप दिया गया। स्वाभाविक रूप से द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद सिनेमा से आदर्शों और विचारों को तिलांजलि दे दी गयी और सिनेमा का क्षेत्र 'सिर्फ़ और सिर्फ़ धन कमाने के एक लाभप्रद क्षेत्र के रूप में तब्दील होता चला गया'। राजनीतिक और आर्थिक स्तर पर भी यही स्थिति थी। इस सीमा के बावजूद हॉलीवुड की एक विशिष्टता थी। वह यह कि दुनिया के किसी भी देश के सिनेमा की तुलना में हॉलीवुड का सिनेमा सर्वाधिक राजनीतिक सिनेमा है।

इस बात में कोई अतिशयोक्ति नहीं कि द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात से ही अमरीका अपने को दुनिया का संरक्षक मानने लगा है। दुनिया के पचास से भी अधिक देशों में उसके सैनिक अड्डे हैं। अमरीका द्वारा उठाया गया किसी भी तरह का कदम उसकी साम्राज्यवादी आकांक्षाओं के अनुरूप होता है। इसलिए स्वाभाविक तौर पर हॉलीवुड सिनेमा का संबंध भी उसकी इन आकांक्षाओं से जुड़ा हुआ है।

दुनिया के अन्य फिल्मकारों की तरह अमरीकी फिल्मकार भी विश्व में होने वाली उथल–पुथल को आमतौर पर ईमानदारी से नहीं दिखाते। मसलन, द्वितीय विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि में बनने वाली फिल्में प्रायः फासीवादी दमन चक्र पर बिल्कुल मौन हैं। कुछ ही फिल्मों में इस पहलू को उठाने का प्रयास किया गया है। स्टीवन स्पिलबर्ग की फिल्म 'शिंडलर्स लिस्ट' एक अपवाद की तरह है। विश्वयुद्ध में सोवियत संघ की भूमिका पर अमरीकी फिल्में प्रायः मौन रहती हैं। इसी तरह वियतनाम युद्ध पर बनी अधिकतर फिल्में अमरीकी नज़रिए को पेश करती हैं। वियतनाम युद्ध के दौरान अमरीकी सैनिकों द्वारा किये गये अमानुषिक कृत्यों पर अमरीकी फिल्में न सिर्फ़ पर्दा डालती हैं, दूसरे पक्ष के बारे में भी असत्य का प्रचार करती हैं।

लेकिन ऐसी ही फिल्मों 'डियर हंटर' और 'प्लाटून' को ऑस्कर अवार्ड से नवाजा गया। यह भी सच है कि जिन विषयों पर अमरीका से बाहर कई महान फिल्में बनी हैं उन पर आमतौर पर हॉलीवुड का सिनेमा या तो प्रायः चुप रहता है या थ्रिलर विधा में हिंसा प्रधान फिल्में बनाता है। अमरीकी राजनीति के संदर्भ में 9/11 का विशेष महत्त्व है। इस विषय पर हॉलीवुड प्रायः चुप ही रहा है। हाँ कुछ महत्त्वपूर्ण वृत्तचित्र बने हैं जिनमें माइकेल मूर द्वारा बनाया गया वृत्तचित्र फारेनहाइट 9/11 का खास स्थान है जिसे ऑस्कर अवार्ड भी दिया गया था। (ऑस्कर अवाड्र्सः यह कठपुतली कौन नचावे, रामजी तिवारी; पहला संस्करणः 2013; दि ग्रुप, जन संस्कृति मंच, गाजियाबाद, पृष्ठ 52)

फ्रांस और इटली जैसे देशों में विश्व स्तर के कई महान फिल्मकार हुए हैं और उन्होंने विश्व सिनेमा को हॉलीवुड से कहीं ज्यादा प्रभावित किया है। कई ऐसे और भी देश हैं जहाँ विश्व का श्रेष्ठ सिनेमा बनता रहा है। भारत भी ऐसे देशों में शामिल है। यहाँ तक कि कुछ अफ्रीकी देशों में भी कई उल्लेखनीय फिल्में बनी हैं जिनके द्वारा अफ्रीकी यथार्थ को ज्यादा बेहतर ढंग से देखा और समझा जा सकता है। हम सभी जानते हैं कि अमरीका के लिए अफ्रीका का क्या अर्थ है और वह उसे किस नज़रिए से पेश करता रहा है। लातीन अमरीकी देशों में भी कई महत्त्वपूर्ण फिल्में बनी हैं और यूरोप और एशिया में सिनेमा को लेकर जितने प्रयोग हुए हैं और जितनी तरह की विविधता दिखायी देती है वह अमरीकी सिनेमा में शायद ही देखने को मिले।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का एक निबन्ध है– 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है'। इसी बिना पर हम सिनेमा के लिए भी यही बात जोर देकर कह सकते हैं। आचार्य द्विवेदी अपने इस आलेख में एक उद्धरण देते हुए सटीक बात कहते हैं– 'सत्य वह है जो मनुष्य के आत्यंतिक कल्याण के लिए किया जाता है। नारद ने शुकदेव से कहा था कि सत्य बोलना अच्छा है, परहित बोलना और भी अच्छा है। मेरे मत से सत्य वह है जो भूत मात्र के आत्यंतिक कल्याण का हेतु हो।

lR;L; opu J;% lR;knfi fgr onrA
;nHkwrfgreR;Urerr lR;| er eeAA

यही सर्वभूत का आत्यंतिक कल्याण साहित्य का चरम लक्ष्य है। जो साहित्य केवल कल्पना विलास है, जो केवल समय काटने के लिए लिखा

जाता है, वह बड़ी चीज नहीं है। बड़ी चीज वह है जो मनुष्य को आहार निद्रा आदि पशु सामान्य धरातल से ऊपर उठाता है। मनुष्य को महान लक्ष्य की तरफ उन्मुख करना और भी श्रेष्ठ कार्य है। (हजारी प्रसाद द्विवेदी संकलित निबंध, संपादक नामवर सिंह, नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, नई दिल्ली, 2001, पृष्ठ 90–91) हिन्दी सिनेमा ने भी मनोरंजन से यथार्थ अंकन तक का लम्बा सफर तय किया है।

भारत एक विशाल देश है। इसी नाते यहाँ विविधता भी अत्यधिक है। विविधता अपने आप में बहुअर्थी होती है। कुछ मायनों में बेहतरीन तो कुछ मामलों में संकीर्ण। जाति–पाँति, छुआछूत, अस्पृश्यता भारतीय समाज के लिए कोढ़ की तरह है। हमारी फिल्मों ने इन सब कुरीतियों के समक्ष खड़े होकर इनकी जड़ों को कमजोर करने का कार्य किया है। सिनेमा ने हमारे समाज के अन्दर की अनेकानेक दुर्बलताओं, अव्यवस्थाओं और मिथ्याचारों को अपना वर्ण्य विषय बनाया है और इस पर अपनी तरह से कड़ा प्रहार भी किया है। ऐसा नहीं कि यह लड़ाई आसान थी। कई मौकों पर हताशा की स्थिति भी आयी लेकिन फिल्मकारों ने अपनी जद्दोजहद नहीं छोड़ी। ऐसे अनेक उदाहरण हैं।

संत एकनाथ के जीवन पर 'महात्मा' नामक एक फिल्म 1935 में बनकर तैयार हुई थी। इस फिल्म में अस्पृश्यता का प्रतिकार किया गया था। जब फिल्म बन कर तैयार हुई तो एक दिलचस्प घटना घटी जिसकी वजह से इसका नाम बदलना पड़ा। जब फिल्म बनकर तैयार हुई तो उसको लेकर शांताराम मुंबई पहुँचे। सेंसर बोर्ड के एक अधिकारी ने इस फिल्म को देखा और प्रमाण पत्र देने से मना कर दिया। उसका कहना था कि इस फिल्म में अस्पृश्यता जैसे विवादास्पद विषय को उठाया गया है। इसलिए इसको दिखाने की अनुमति नहीं दी जा सकती है। इसके बाद सेंसर बोर्ड इस फिल्म को देखने बैठी। बोर्ड के सदस्यों ने भी अपने अधिकारी की राय से सहमति जताई। सदस्यों का मानना था कि यह फिल्म ब्राह्मणों की भावनाओं को भड़का सकती है। सेंसर बोर्ड ने उनको फिल्म के कई दृश्यों को हटाने का भी आदेश दिया। अपने आदेश में सेंसर बोर्ड ने फिल्म के प्रदर्शन पर रोक लगा दिया और कई दृश्य में बदलाव करने के लिए कहा जिससे शांताराम बहुत निराश हुए। (दैनिक जागरण, 14 नवंबर 2021, इलाहाबाद, झंकार, अनंत विजय का आलेख 'कुरीतियों के उन्मूलन को समर्पित फिल्मकार', पृष्ठ 4)

जातिवाद ने राष्ट्र के समक्ष कई तरह की समस्याएँ खड़ी की हैं। सरकार ने इसके उन्मूलन हेतु प्रयत्न भी किए लेकिन जनजागरूकता के अभाव में जातिवाद, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में पूरी तरह व्याप्त है। डॉ राजेन्द्र प्रसाद स्मारक व्याख्यानमाला 1983 में अपने एक व्याख्यान में इतिहासकार डॉ. के.एम. श्रीमाली ने कहा 'राष्ट्रीय एकीकरण में जातिवाद कई बाधाएँ उत्पन्न करता है। इसके निवारण के लिए स्वतंत्रता के बाद सरकार ने और सार्वजनिक संस्थाओं ने कई प्रयत्न किए परंतु अब भी जातिवाद सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में पूरी तरह व्याप्त है। उद्योगों में, व्यवस्थाओं में, सरकारी नौकरियों में, शिक्षण संस्थाओं में और विश्वविद्यालयों तक में जो भी राष्ट्रहित चाहते हैं उनका यह कर्तव्य हो जाता है कि जातिवाद का डटकर मुकाबला करें और उसका उन्मूलन कर दे सांप्रदायिकता और जातिवाद ऐसी मनोविकृतियाँ हैं कि इनका जन्म और विकास आर्थिक विषमताओं में ही होता है जैसे–जैसे देश में आर्थिक विकास होगा वैसे–वैसे रूढ़िवादिता और संकीर्णता समाप्त होती जाएगी और एक स्वतंत्र राष्ट्रवाद का स्वरूप निखर कर सामने आएगा। (डॉक्टर के. एम. श्रीमाली, राष्ट्रीय एकता और धर्मनिरपेक्षता समस्या और समाधान, प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, 1985, पृष्ठ 17–18)

1936 में बनी अछूत कन्या फिल्म में ब्राह्मण लड़के और दलित लड़की की प्रेम कहानी को पेश किया गया था। इसके बाद भी कई फिल्में इस विषय पर बनी लेकिन इसमें सर्वाधिक प्रमुख है 'सुजाता'। सन् 1959 में निर्मित 'सुजाता' प्रख्यात फिल्मकार बिमल राय के निर्देशन में बनी बहुचर्चित फिल्म है। इसकी कथा बांग्ला कथाकार सुबोध घोष की कहानी पर आधारित है। बिमल राय की अन्य फिल्मों की तरह सुजाता का संबंध भी सामाजिक यथार्थ से है। फिल्म का कथानक अछूत समस्या पर आधारित है लेकिन इस समस्या को दलितों की नजर से नहीं देखा गया है। यह कहना ज्यादा सही है कि फिल्म दरअसल दलित यथार्थ पर आधारित नहीं है बल्कि दलितों के प्रति सवर्णों के रवैए को कहानी में आधार बनाया गया है। यह फिल्म दलित उत्थान से संबंधित नहीं है बावजूद यह भी एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्न रहा है। (अनहद, अंक 10, में प्रकाशित जबरी मल पारख का आलेख 'गांधी के जीवनादर्शों का हिंदी सिनेमा पर प्रभाव' संपादक संतोष कुमार चतुर्वेदी, दिसंबर 2021, इलाहाबाद, पृष्ठ 255)

आजादी मिलने के पश्चात भारतीय सिनेमा का परिप्रेक्ष्य बदला। सिनेमा ने लोकतांत्रिक मूल्यों के साथ साथ आधुनिकतम विचारों को बढ़ावा देने में कोई कोताही नहीं बरती। जवाहरलाल नेहरू स्वतंत्र भारत के प्रधानमंत्री बने और मृत्युपर्यन्त 27 मई, 1964 तक इस पद पर बने रहे। वे सिनेमा के महत्त्व से भलीभाँति परिचित थे। इसीलिए नेहरू ने न केवल इसके विकास पर ध्यान दिया बल्कि इसमें गुणवत्तापरक सुधार हेतु कमेटी बनाकर कई आदेश भी पारित किए। यह अनायास नहीं था कि इस समय की महत्त्वपूर्ण फिल्मी हस्तियों जैसे पृथ्वीराज कपूर, राजकपूर, लता मंगेशकर, महबूब खान, बलराज साहनी, दिलीप कुमार, नरगिस दत्त आदि से नेहरु का प्रगाढ़ संबंध था।

बहरहाल, भारत के गँवई परिदृश्य में शादी ब्याह में आने वाली नाच पार्टी के नाच देखने से युवाओं के मनोरंजन सफर की शुरूआत होती थी। हम उस समय के गवाह हैं। यह वह समय था जब बॉलीवुड के सिनेमाई परिदृश्य पर राजेश खन्ना का वर्चस्व था और अमिताभ बच्चन उस वर्चस्व को अपने करिश्माई अभिनय से गम्भीर चुनौती देने लगे थे। इसी समय राज कपूर की ऐसी फिल्में आने लगी थी जिन्होंने न केवल अपने गानों बल्कि अभिनेत्रियों के देह प्रदर्शन के बूते धूम मचाई और उसी के लिए आज तक याद की जाती हैं। इस समय से भारतीय सिनेमा में एक बदलाव साफ–साफ परिलक्षित होता है। अब सिनेमा में अभिनेत्रियों के देह प्रदर्शन और मार–धाड़ वाले दृश्यों की संख्या बढ़ने लगी।

...वास्तव में यह कहानी हिन्दी पट्टी के उन असंख्य लोगों की कहानी है जो ठीक इसी देशकाल में अपना जीवनयापन कर रहे थे। इस देशकाल से जुड़ा था समाज, संस्कृति और साहित्य। यह समय उस ऐंग्री यंगमैन का समय था जो महानायक बन कर उभरा था और लोग पागलपन की हद तक उसके दीवाने थे। यह एंग्री यंगमैन लोगों के गुस्से को पर्दे पर रूपायित करता था। वह गुस्सा जो माफियाओं, अपराधियों, नेताओं और भ्रष्ट नौकरशाहों के खिलाफ लोगों के मन में धधकता रहता था। अमिताभ बच्चन की फिल्मों के नाम भी कुछ इस तरह के होते जिससे आम आदमी जुड़ाव महसूस करता। 'दीवार', 'जंजीर', 'शोले', 'लावारिस', 'सिलसिला', 'शराबी', 'कुली' ... जैसी फिल्मों की एक लम्बी फेहरिस्त है। लेकिन इसी समय एक दुर्घटना घटित हुई। 'कुली' फ़िल्म की शूटिंग के दौरान महानायक को खलनायक की भूमिका निभा रहे पुनीत इस्सर के गुस्से की

वजह से संघातक चोट लगी और एकबारगी समूचा देश उसके लिए दुआएँ करने लगा। उस समय की प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी तक घायल महानायक को देखने के लिए मुम्बई के ब्रीच कैण्डी हास्पिटल गयीं। यह सिनेमा से जनता के लगाव का नतीजा था। लेकिन इस घटना ने यह सबक भी दिया था कि 'रील लाईफ' और 'रियल लाइफ' में काफी फर्क है। हिन्दी फिल्में हकीकत से कोसों दूर रहते हुए वह रोमांटिसिज्म गढ़ती हैं जो आम जीवन में सम्भव है ही नहीं। वैसे भी अपने देश में लोगों की दुश्वारियाँ इतनी अधिक हैं कि रोटी–कपड़ा–मकान जुटाने में ही समूची ज़िंदगी बीत जाती है। ऐसे में लोगों के व्यावहारिक जीवन और सैद्धांतिक जीवन में काफी फर्क दिखायी पडता है। लोग बाग पर्दे पर ही सही, उस नैतिकता को जीतते हुए देखना चाहते हैं जो वे बचपन से ही अपनी मानसिकता में पाले पोसे रहते हैं। भारतीय सिनेमा खासकर हिंदी सिनेमा यही काम करता है। वह एक ऐसा यूटोपियन आदर्श गढ़ता है जो वास्तविक जीवन में सम्भव ही नहीं।

नब्बे के दशक में वीडियो कैसेट आने के पश्चात सिनेमा और सिनेमा हालों पर असर पड़ना शुरू हो गया और हर छोटे–बड़े शहर में दिखाई पड़ने वाले सिनेमा हॉल अब एक–एक कर बंद होने लगे। उनकी जगह बिग बाजार और मल्टीप्लेक्स हॉल में सिनेमा दिखाया जाने लगा जो खासा महँगा हुआ करता है। आम आदमी वहाँ जाकर सिनेमा देखने के बारे में सोच ही नहीं सकता। यह उस विकृत पूँजीवाद का चेहरा है जिसमें किसी आम आदमी के लिए कोई जगह नहीं होती। जो समृद्ध व्यक्ति का ही पोषक हुआ करता है। मोबाइल पर इंटरनेट की सर्वसुलभता ने सिनेमा हॉल का और भी वारा न्यारा कर दिया। नब्बे के दशक में ही टेलीविजन पर शुरू होने वाले धारावाहिकों ने सिनेमा को अच्छा खासा प्रभावित किया। 'हम लोग' और 'बुनियाद' से आरंभ हुई यह शृंखला 'रामायण' और 'महाभारत' धारावाहिक के समय अपने चरम पर पहुँच गई। धारावाहिकों का क्रेज यह था कि एक लंबी कहानी को टुकड़े–टुकड़े में प्रस्तुत किया जाता था और हर धारावाहिक अपनी प्रस्तुति की किश्त के अंत में वह रोमांच, वह पुछल्ला जरूर छोड़ जाता था जिसके आगे का हिस्सा देखने के लिए दर्शक आतुर रहता था और धारावाहिक के अगले किश्त की बेसब्री से प्रतीक्षा करता था। रामायण, महाभारत धारावाहिकों की लोकप्रियता का आलम यह था कि महानगरों की सड़कें तक सूनी पड़ जाती थीं।

इस फिल्म उद्योग की यह विशेषता है कि यहाँ समय बदलने के साथ नायक महानायक भी बदलते रहते हैं। महानायक वह कहा जाता है जिसके अभिनय को दर्शक सबसे अधिक पसन्द करते हैं। जिसकी फिल्में अच्छी खासी कमाई कर लेती हैं। पृथ्वीराज कपूर से शुरू हुआ महानायकत्त्व का यह सिलसिला आज भी चल रहा है। कुंदन लाल सहगल, राज कपूर, दिलीप कुमार, संजीव कुमार, राजकुमार, राजेश खन्ना अमिताभ बच्चन, धर्मेंद्र, जितेंद्र, सुनील दत्त, ऋषि कपूर, शत्रुघ्न सिन्हा, गोविंदा, संजय दत्त, सलमान खान, शाहरूख खान, आमिर खान से होते हुए यह क्रम आज रणवीर कपूर जैसे अभिनेताओं तक पहुँच चुका है। व्यावसायिक सिनेमा के समानान्तर कलावादी सिनेमा का भी क्रम चलता रहा जिसके नायक अमोल पालेकर, फारुख शेख, ओम पुरी, नसीरुद्दीन शाह जैसे सिनेकार थे। सिनेमा अपने समय का प्रतिमान गढ़ता है। कभी सिनेमा में प्रतिबद्धता और प्रगतिशील मूल्यों की बहुलता थी। लेकिन समय के साथ यह मूल्य अब नदारद होते गए हैं। अब आर्थिक मूल्य ही प्रधान है और इसके लिए जो भी संभव है, वह करने के लिए अभिनेता हमेशा प्रस्तुत रहते हैं। कहना न होगा कि इसी क्रम में बॉलीवुड का सम्बन्ध माफियाओं से जुड़ा। इसी क्रम में कुछ अभिनेताओं का इस्तेमाल नेताओं ने राजनीति में भी किया। कुछ को सफलता मिली तो कुछ को असफलता। असफल अभिनेता थक हारकर अभिनय की दुनिया में फिर से वापस चले गए। 1991 के उदारीकरण के दौड़ के आरंभ के पश्चात भारतीय हिंदी सिनेमा की दुनिया भी काफी बदल गई है। उसका संगीत बदल गया है। उसकी धुन बदल गई है। यहां तक कि फिल्मों की कहानियाँ और उनके मूल्य भी बदल गए हैं। नई पीढ़ी को पुराने गाने अच्छे नहीं लगते तो पुरानी पीढ़ी को इस दौर का संगीत बस शोरगुल पैदा करने वाला ही लगता है। इसे हम पीढ़ियों के अंतर (जेनरेशन गैप) के रूप में भी समझ सकते हैं।

फिल्मों के हीरो और हीरोइन उन्हीं के जीवन से आते थे– मध्यवर्गीय समाज की वर्जित चीजें उच्चवर्गीय जीवन में स्वीकार्य थीं। पाप–पुण्य, नैतिक–अनैतिक, अच्छे–बुरे की विभाजक रेखाएँ मिट चुकी थीं। इस वर्ग के लिए भोग भी एक तपस्या थी– वे जीभर और छककर जीते थे– हर तरह का भौतिक सुख हासिल करते थे। उनके पास अपार क्रय–शक्ति थी। दुनिया के हर मुल्क में उनके ऐशगाह, उनकी शामों को खुशगवार बनाने वाली स्त्रियां थी। आज की फिल्मों को देखिए तो ये दृश्य आसानी से देखने को मिल जाएंगे। पेज थ्री, फैशन, कारपोरेट जैसी फिल्में

देखकर हमें पता लग सकता है कि आज की फिल्मों के वर्ण्य विषय कौन हैं।

सिनेमा को लेकर हमारे समाज में दोहरा चरित्र दिखाई पड़ता है। इसमें सिनेमा के गलत प्रभाव की चर्चा प्रमुख रूप से की जाती थी। लेकिन बाजारवाद ने सिनेमा के प्रति सोच को पूरी तरह बदल कर रख दिया है। इस से सिनेमा के प्रति एक नया आकर्षण पैदा हुआ है। ज्ञान के केंद्रों में इसे जगह मिलनी शुरू हुई है। कई विश्वविद्यालयों में सिनेमा को बतौर एक विषय और कुछ विषयों के एक पेपर के तौर पर पढ़ाया जाने लगा है दरअसल यदि ज्ञान केंद्रों में इसे जगह मिलनी शुरू हुई है तो इसमें दिखलाई देने वाली व्यवसाय की अनंत संभावनाओं के कारण, सिनेमा में सिर्फ सितारों का रोशन संसार ही नहीं है बल्कि जिंदगी से जुड़ी हुई हर प्रकार की कामकाजी स्थिति के लिए वहाँ पर रोजी–रोटी का जरिया मौजूद है। जीवन की कोई क्षेत्र की ऐसी कोई गतिविधि नहीं जो इस कला रूप से जाकर न जुड़ती हो। इसमें विभिन्न कलाकारों का समन्वय तो होता ही है जीवन के विविध कार्यकलापों का भी समन्वय होता है। (प्रगतिशील वसुधा, अंक 81, हिंदी सिनेमा अंक, प्रधान संपादक कमला प्रसाद, प्रहलाद अग्रवाल का आलेख हिंदी सिनेमा का यह सफर, पृष्ठ 20)

सिनेमा एक सामूहिक माध्यम है। इसके निर्माण में भी यह सामूहिकता दिखाई पड़ती है। सिनेमा के अधिकृत विद्वान प्रह्लाद अग्रवाल इस महत्त्वपूर्ण बात की तरफ शिद्दत से ध्यान आकर्षित करते हैं। वे सिनेमा की उस व्यापकता की चर्चा करते हैं जिसके चलते वह और माध्यमों से अलग एक विशिष्ट माध्यम के रूप में देखा समझा जाता है। अग्रवाल लिखते हैं यह निर्विवाद है कि सिनेमा का प्रभाव क्षेत्र साहित्य की अपेक्षा बहुत व्यापक है। साहित्य जहाँ पढ़े लिखे और उसमें भी सुधी पाठकों तक ही पहुँच पाता है वहीं सिनेमा संपूर्ण जन समुदाय द्वारा अपनाया गया है। यह उच्चतम से निम्नतम स्तर तक एक साथ संप्रेषित हो पाने की सामर्थ्य रखता है। यह सबसे पहले आखिरी पायदान पर खड़े अवाम का माध्यम है। वहीं जहाँ साहित्य सृजन एक नितांत व्यक्तिगत कर्म है, दूसरी ओर सिनेमा सामूहिक रचनात्मक विधा है। इसमें एक साथ विभिन्न क्षेत्रों से जुड़े हुए सैकड़ों लोगों की संलग्नता आवश्यक होती है। जहाँ साहित्य सृजन में पूंजी की भूमिका लगभग नगण्य है। वहीं सिनेमाई सृजन बड़ी पूंजी की माँग करता है। इस तरह न होते हुए भी यह एक व्यावसायिक कला बन जाने

के लिए अभिशप्त है। इसलिए इसके सृजन कर्म में पूंजी के दबाव और हस्तक्षेप को सिरे से खारिज नहीं किया जा सकता। साहित्य की अपेक्षा सिनेमा सृजन में सर्जक के लिए अपनी स्वायत्तता बनाए रखना अत्यंत मुश्किल काम होता है। सम्मानित फिल्मकार फ्रांसुआ त्रुफो स्पष्ट रूप से लोकप्रिय और कला सिनेमा के विभाजन को अस्वीकार करते थे। उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि सभी फिल्में व्यावसायिक वस्तु होती हैं। और अंततः उन्हें खरीदा और बेचा जाता है। सिर्फ त्रुफो ही नहीं, विश्व के अनेक महान निरूपित किए जाने वाले फिल्मकार धन की महत्ता को अस्वीकार नहीं करते। (हिन्दी सिनेमा आदि से अनन्त..., भाग 1, साहित्य भण्डार, इलाहाबाद, प्रह्लाद अग्रवाल, 1, हिन्दी सिनेमा सौ साल का सुहाना सफर, पृष्ठ 13)

विभिन्न तकनीकों के चलते सिनेमा भी लगातार अपना रूप बदल रहा था। इक्कीसवीं सदी के पहले दशक में सिनेमाहाल की जगह मल्टीप्लेक्स लेने लगे थे। हिन्दी सिनेमा पर अब पूंजीपतियों और कारपोरेटों का आधिपत्य स्थापित होने लगा था। अब फिल्मों के नाम ही नहीं उनके वर्ण्य विषय भी बदलने लगे थे। आम आदमी, उसकी समस्याएँ और उसके दुःख सुख सिनेमा से गायब होने लगे थे। सिनेमाहाल बन्द होने से 'चवन्निया दर्शक' भी गायब होने लगे थे। सैकड़ो रूपये खर्च कर सिनेमा देखना इनके ही नहीं बल्कि निम्न मध्यम वर्ग के लिए भी बूते के बाहर था। 2019 की कोरोना महामारी ने सिनेमाहालों का एक तरह से वारा न्यारा ही कर दिया। सिनेमाहाल बंद कर दिये गये, समाज की गतिविधियाँ स्थगित हो गयी थी। प्रायः होली, दीवाली, ईद, रमजान के अवसर पर फिल्में रिलीज होती थी, सिनेमाहाल दर्शकों से भर जाते थे– अब यह बीती हुई घटना हो गयी थीं।

विकल्प की खोज ओ. टी. टी. (ओवर द टॉप) प्लेटफॉर्म की खोज के साथ हुई। इस प्रणाली के जरिये इस प्लेटफार्म पर नयी फिल्में रिलीज की जाती थी– इस क्षेत्र में 'नेटफ्लिक्स', 'हाटस्टार' और 'अमेज़न प्राइम टाइम' जैसी अन्तरराष्ट्रीय संस्थाएँ सक्रिय हैं। इस प्लेटफार्म पर फिल्म देखने के अलग–अलग चार्ज हैं, फिल्मों के अलावा टी.वी. सीरियल भी इस माध्यम पर दिखाये जाते हैं। इनका बाजार वैश्विक है– वे किसी एक मुल्क तक सीमित नहीं हैं। अमेज़न जैसी कम्पनी की ताकत और विस्तार से हम परिचित ही हैं। (पहली बार ब्लॉग पर स्वप्निल श्रीवास्तव का संस्मरणात्मक

आलेख 'एक सिनेमाबाज की कहानी, 6 नवम्बर 2021, (www-pahleebar-blogspot- com)। सवाल फिर घूम–फिर कर उठता है– क्या आम आदमी की पहुँच इन माध्यमों तक पहुँच सकता है? आम आदमी की बात छोडिए, मध्य वर्ग के लिए फिल्म देखना मँहगा सौदा है। इस वैश्विक प्लेटफॉर्म तक आम आदमी की पहुँच मुश्किल है। सिनेमा पूरी तरह अपना रूप बदल चुका है। सिनेमा का ऐसा अवसान हमारी कल्पना के परे था।

बहरहाल सिनेमा के उद्भव और विकास की कहानी एक तरह से हमारे समय और समाज की जीवंत कहानी है। वह कहानी जो समाज के विभिन्न वर्गों के जीवन और संघर्ष के हवाले से अनवरत चलती रही। इसी क्रम में हम उन कस्बों और शहरों से भी वाकिफ होते हैं जो हमारे भारतीय जीवन के अभिन्न अंग हैं। यहाँ की घटनाओं, यहाँ के लोगों, यहाँ की कथा–कहानियों में जीवन जैसे हर पल धडकता रहता है। आमतौर पर ये कस्बे और शहर हर तरह से पिछड़े नजर आते हैं। पिछड़ापन जैसे इनकी नियति ही बन गयी हो। कुछ हद तक सिनेमा ने इन कस्बों और शहरों के लोगों को जागरूक करने में महती भूमिका निभायी है।

lUnHkZ xzUFk

- अग्रवाल, प्रह्लाद, हिन्दी सिनेमा सौ साल का सफर, भाग–1, साहित्य भण्डार, इलाहाबाद, पहला संस्करण, 2014
- तिवारी, रामजी, ऑस्कर अवार्ड्सः यह कठपुतली कौन नचावे, पहला संस्करणः 2013; दि ग्रुप, जन संस्कृति मंच, गाजियाबाद
- द्विवेदी, हजारी प्रसाद–संकलित निबंध, संपादक नामवर सिंह, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली, 2001,
- श्रीमाली, के. एम., राष्ट्रीय एकता और धर्मनिरपेक्षता–समस्या और समाधान, प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, 1985, पृष्ठ 17–18)

if=dk

- अनहद, अंक 10, इलाहाबाद, संपादक–संतोष कुमार चतुर्वेदी, दिसंबर 2021,
- प्रगतिशील वसुधा, अंक 81, हिंदी सिनेमा अंक, प्रधान संपादक कमला प्रसाद, भोपाल।

lekpkj i=

- दैनिक जागरण, इलाहाबाद, झंकार, 14 नवंबर 2021

Cy,x

- पहली बार ब्लॉग, लिंक : www- pahleebar-blogspot- com)